भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो!

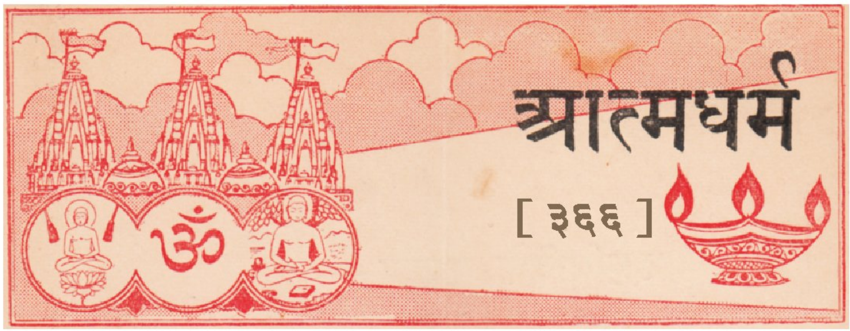

धर्मचक्रधारी प्रभो! किया धर्म उद्योत;
नमन करूँ तुव चरण में प्रगटे आतमज्योत,

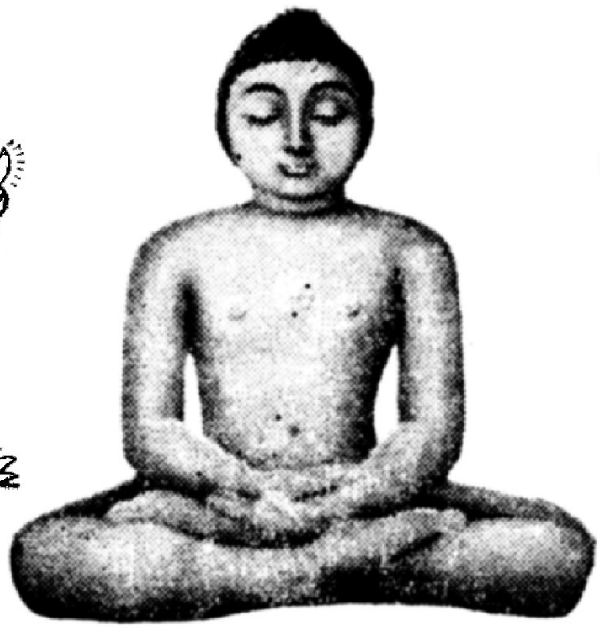

अहा, चैतन्य में लीन होकर आप कैसे अतीन्द्रिय
आनंद को ध्या रहे हो! उस आनंद का
स्मरण भी आनंद मंगलकारी है।

तंत्री—पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार
वीर सं. २५०१ आश्विन (वार्षिक चंदा रुपये ६=००) वर्ष ३१ अंक-६

महावीर वंदना

❁ पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ❁

उपरोक्त सूत्र द्वारा कुंदकुंदस्वामी ने जिन परमात्मा को प्रणाम किया है, जो प्रवर्तमान धर्मतीर्थ के नायक हैं और जिनके निर्वाणगमन के ढाई हजारवें वर्ष का मंगल-उत्सव हम एक वर्ष से मना रहे थे, उन महावीर भगवान के चरणों में हम नमस्कार करते हैं।

भरतक्षेत्र में धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाले महावीरस्वामी तो ढाई हजार वर्ष पूर्व मोक्ष पधार चुके हैं... ध्रुव, अचल एवं अनुपम ऐसी सिद्धगति को उन्होंने प्राप्त कर लिया है... आज ढाई हजार वर्ष बाद भी हम सबके लिये यह परम हर्ष का कारण है कि—श्री महावीर भगवान का दर्शाया हुआ मोक्ष का मार्ग आज भी चल रहा है और उस मार्ग में हमने अपुनर्भव के हेतु की प्राप्ति हो रही है। अहा, कैसा आनंदमय मार्ग है।

— ऐसे सुंदर मार्ग के प्रणेता महावीर प्रभु को सम्यक् स्वरूप से पहिचानकर, 'आनंदपूर्वक उन भगवान के मार्ग पर चलें'—ऐसी भावना-सहित, परमोपकारी शासननायक प्रभु के प्रति मोक्षकल्याणक की अंजिल अर्पित करें।

भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो!

वार्षिक चंदा
छह रुपये
वर्ष ३१वाँ
अंक ६

आत्मधर्म

वीर सं. २५०१
आश्विन
ई.स. १९७५
नवम्बर

मंगल-सुप्रभात

नूतन वर्ष के सुप्रभात में पूज्य गुरुदेव ने परमागम मंदिर में भगवान महावीर के दर्शन किये। पश्चात् मंगल-संदेश में चैतन्यप्रभु की उत्कृष्टता का वर्णन करके कहा कि आत्मा की एक प्रभुता में सब समा जाता है, उसका स्मरण करके उसे प्रगट करना ही मंगल-सुप्रभात है। उतना ही सत्य है, उतना ही कल्याण है, उतना ही ज्ञानस्वरूप है।—ऐसा कहकर गुरुदेव ने सत्य आत्मस्वरूप का अनुभव करने की उत्तम प्रेरणा दी, तथा कहा कि ऐसा आत्मा ही ध्रुव-शरण है। अहो, यही सत्य है और इसके अतिरिक्त सब असत्य है, अभूतार्थ है, अवस्तु है; भूतार्थस्वभाव में उसका अभाव है; ऐसा जो भूतार्थस्वभाव है, वही आत्मा की सच्ची प्रभुता है। उसमें सर्वज्ञता, पूर्ण आनंद, सुख सभी भाव समा जाते हैं। बाहर देखनेवाली आँख को बंद करके अंतर में ऐसे भूतार्थ आत्मा को देखना ही अपूर्व मंगल-प्रभात है। ऐसे भूतार्थस्वभाव (सिद्धदशा) को भगवान महावीर ने आज के दिन पावापुरी से प्राप्त किया था, उसी का यह उत्सव मनाया जा रहा है।

वैराग्य भीनी विदा

हे बुधंजनो! मैं तुमसे विदा लेता हूँ.... जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा वह आत्मा आज आत्मारूपी जो अपना अनादि बंधु उसके निकट जाता है।

ज्ञानतत्त्व का निर्णय करने के पश्चात् जब मोक्षार्थी जीव चारित्रदशा अंगीकार करने जाता है, तब कुटुंब-परिवार से अतिशय वैराग्यपूर्वक विदा लेता है; उसका वर्णन मुमुक्षु के चित्त को संसार से एकदम उदासीन कर देता है और फिर दुःख से सर्वथा छूटने का अभिलाषी वह मोक्षार्थी जीव जब चारित्रवान कुंदकुंदस्वामी जैसे आचार्य भगवंतों के निकट जाकर, उनके चरणों में गिरकर इष्ट की प्रार्थना करता है कि—प्रभो! मुझे शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुगृहीत करो! पश्चात् श्रीगुरु उसे दीक्षा देते हैं कि—ले, यह शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि! बस, फिर दीक्षित हुआ वह जीव निर्विकल्प ध्यान द्वारा मुनि होकर मोक्षमार्ग में विचरता है।—ऐसे दीक्षा महोत्सव का आनंदकारी वर्णन सुनकर आत्मा प्रशांत रस में झूलने लगता है... अहा! मानो मुनिवरों के समूह अपने सन्मुख विराजमान हों और शांतरस की फुहारें पड़ रही हों।—ऐसी शांत ऊर्मियाँ गुरुदेव का प्रवचन सुनते समय उल्लसित होती थीं.. और ऐसी भावना जागृत होती थी कि अहा! परमात्मा के पथ पर विचरते हुए कोई ऐसे वीतराग संतमुनि पधारें तो उनके पीछे-पीछे चले आयें...

अहा! गुरुदेव कहते हैं कि जिसे मोक्ष साधना हो, उसे ऐसी मुनिदशा का चारित्र अंगीकार करना ही होगा। जिसमें शुद्धोपयोग का बल है और जो अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर है—ऐसी मुनिदशा की अपार महिमापूर्वक यह प्रवचन पढ़ो... और ऐसी मुनिभावना का मंगल आनंद मनाओ!

प्रवचनसार में प्रथम दो अधिकारों द्वारा ज्ञानतत्त्व और स्व-पर ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—हमारा आत्मा इस संसार के दुःख से मुक्त होने का अर्थी था, इसलिये हमने ऐसे ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का यथार्थ निर्णय किया है। पंच परमेष्ठी भगवंतों को भावनमस्कार करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरांत शुद्धोपयोग द्वारा वीतरागी साम्यभावरूप मुनिदशा प्रगट की है। हम अपने अनुभव से कहते हैं कि हे जीवो! दुःख से छूटने के लिये तुम भी इसी मार्ग को अंगीकार करो। जिसका आत्मा दुःखों से मुक्त होने का अर्थी हो, वह हमारी भाँति सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा अंगीकार करो। वह चारित्रदशा अंगीकार करने का जो यथानुभूत-अनुभव किया हुआ मार्ग, उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।

[वाह, मानों आचार्य भगवान सामने साक्षात् ही खड़े हों और शिष्यजनों को मुनिदीक्षा की प्रेरणा करते हों! ऐसा अद्‌भुत वैराग्यरस भीना वर्णन इस चारित्र अधिकार में है।]

अहा, देखो यह दुःख से छूटने का मार्ग! साधुदशा क्या वस्तु है, उसकी लोगों को खबर नहीं है, अंतर में जिसने चैतन्यनिधान देखे हों, जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई हो और चैतन्य का भंडार खोलने के प्रयत्न में जो सतत परायण वर्तता हो—ऐसे जीव को चैतन्य में लीनता से चारित्रदशा एवं साधुदशा होती है। आचार्यभगवान निःशंकतापूर्वक कहते हैं कि—ऐसी दशा हमें प्रगट हुई है, अपने स्वानुभव से हमने उसका मार्ग जाना है... अन्य जो मुमुक्षु दुःख से छूटने के लिये चारित्रदशा ग्रहण करना चाहते हों, उन्हें मार्ग बतलानेवाले हम यह खड़े हैं!

जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो, ज्ञानज्योति झलकी हो, और अब मुनि होकर चैतन्य के पूर्णानंद को साधना चाहता हो, कषायों के क्लेशरूप दुःखों से अत्यंतरूप से छूटकर चैतन्य की परमशांति में स्थिर होना चाहता हो, वह जीव क्या करता है? पंच परमेष्ठी भगवंतों को पुनः पुनः नमस्कार करके जो मुनि होना चाहता है, वह मुमुक्षु

प्रथम तो वैराग्यपूर्वक बंधुवर्ग से विदा लेता है—अहो, इस पुरुष शरीर के बंधुवर्ग में वर्तनेवाले आत्माओ! इस पुरुष का आत्मा किंचित् भी तुम्हारा नहीं है—ऐसा निश्चय से तुम जानो। ज्ञानतत्त्व के निश्चय द्वारा सर्वत्र ममता छोड़कर अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा मैं आज आत्मारूपी मेरा जो अनादि बंधु उसके निकट जाता हूँ। अरे, समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न, मैं तो एक ज्ञानस्वरूप अनादि-अनंत चैतन्य हूँ; मेरा सच्चा बंधुवर्ग तो ज्ञान-आनंदादि अनंत गुण हैं—जो कि सदा मेरे साथ ही हैं; बाहर यह जो सगे-संबंधी हैं, वे सचमुच मेरे नहीं हैं; हम अब निर्मोह होकर चैतन्य की शुद्धता को साधने के लिये वन में जायेंगे। देखो, यह धर्मी का वैराग्य! चैतन्य की धुन लगी... वैराग्य की मस्ती आयी... वह अब संसार के बंधन में नहीं रहेगा। हमारा आत्मा संसार के क्लेश से थका है... हमारा स्थान अब वन में-चैतन्य की शांति में ही है। वन के सिंह-बाघ के बीच जाकर हम अपने चैतन्य की साधना करेंगे और समभाव में रहेंगे। चैतन्यतत्त्व की प्रतीति और अनुभूति तो पहले हो चुके हैं, अब उनकी पूर्णता को साधने के लिये इसप्रकार वैराग्यपूर्वक मोक्षार्थी जीव मुनि होता है।

हे बंधुवर्ग के आत्मा! मैं किंचित् भी तुम्हारा नहीं हूँ और न तुम किंचित् भी मेरे हो—ऐसा निश्चय से जानो! एक ज्ञानस्वभाव ही हमारा है, जगत में अन्य कुछ भी हमारा नहीं है—ऐसा मैंने जाना है, मुझे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है। अपना चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मेरा सच्चा बंधु है, उसे मैंने जान लिया है, इसलिये अपने अनादि के सच्चे बंधु के पास मैं जा रहा हूँ... अब मैं मोहरहित होकर अपने चैतन्य की शांति में स्थिर होऊँगा और सिद्धपद को साधूँगा।

देखो, यह ज्ञानी का वैराग्य! यह चारित्रदशा की तैयारी! वह वैरागी जीव पिता एवं माता के पास जाकर वैराग्यपूर्वक कहता है कि—हे पिता! हे माता! यह पुरुष का आत्मा तुम्हारे आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है—ऐसा निश्चय से तुम जानो। मैंने अपने

आत्मा को सबसे भिन्न जाना है, इसलिए अब सबके साथ का मोह संबंध छोड़कर, वैराग्यपूर्वक मैं अपने आत्मा को साधना चाहता हूँ, आप मुझे अनुमति प्रदान करो। जिसके ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मा के पास जाता है, अर्थात् स्वयं अपने में लीन होता है। आत्मा ही अपना अनादि का जनक है—स्वयं ही अपनी निर्मल-पर्यायरूप प्रजा का उत्पादक है। ऐसे अपने आत्मा को हमने अनुभव में लिया है और अब मुनि होकर आत्मा के केवलज्ञान निधान को खोलेंगे।—ऐसी भावना से पिता-माता के पास जाकर विनयपूर्वक आज्ञा लेता है।

अहा, धर्मकाल में तो ऐसे अनेकानेक प्रसंग बनते थे। छोटे-छोटे राजकुमार भी अंतरात्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करके वैराग्य प्राप्त करते और दीक्षा लेते थे। छोटे से हाथ में छोटा-सा कमण्डल और पीछी लेकर महान चैतन्य की धुन में मस्त वे मुनि चले आते हों... अहा, मानों वे तो छोटे सिद्धभगवान! वर्तमान काल में यहाँ तो ऐसे मुनिराजों के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। अरे, तत्त्वज्ञान भी जहाँ दुर्लभ हो गया है, वहाँ मुनिदशा की तो क्या बात! मुनिदशा के पीछे तो ज्ञायकतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान का अपार बल है, तदुपरांत शुद्धोपयोगी वीतराग परिणाम हों, तब मुनिदशा होती है। मुनिदशा तो परमेष्ठीपद है; इंद्र और चक्रवर्ती भी भक्ति से उसका आदर करते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने की जिसमें तैयारी है—ऐसी मुनिदशा की महिमा का क्या कहना! आचार्यदेव कहते हैं कि—जिसे दुःख से मुक्त होना हो, वे ऐसी चारित्रदशा अंगीकार करो! ऐसी दशा के बिना मोक्ष नहीं होता।

आत्मज्ञान के पश्चात् परम वैराग्य से जो मुनि होने को उद्यत हुआ है, वह मुमुक्षु माता-पिता-स्त्री-पुत्रादि के पास अनुमति लेने जाता है। कोई-कोई जीव सगे-संबंधियों की आज्ञा न लें और सीधे जाकर मुनि हो जायें—ऐसा भी होता है; परन्तु जो जीव आज्ञा माँगते हैं, वे कैसे वैराग्यभाव से माँगते हैं, उसका यह वर्णन है। उन जीवों ने अपने आत्मा को जिसप्रकार शरीर से भिन्न जाना है, उसीप्रकार सामनेवाले

आत्माओं को भी शरीर से भिन्न जाना है; इसलिये वह स्त्री के आत्मा को संबोधकर कहता है कि—हे रमणी के आत्मा! मेरे इस ज्ञानमय आत्मा को रमानेवाला तू नहीं है—ऐसा तू निश्चय से जान। मैंने अपने चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को जान लिया है, उसी सुख में अब मैं रमण करूँगा। बाह्य विषयों में स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता; अब तो मेरी स्वानुभूतिरूपा जो अनादि रमणी, उसी में रमणता करूँगा... जिन्हें ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है, ऐसा मैं आज अपनी स्वानुभूति के पास जाता हूँ... इसलिये तू मुझे विदा दे!

इसीप्रकार पुत्र या भाई-बहिन आदि हों, उनके आत्मा से भी कहता है कि—हे आत्माओ! यह आत्मा तुम्हारा किंचित् भी नहीं है और तुम भी इस आत्मा के किंचित् नहीं हो। मैंने जनक होकर पुत्र के आत्मा को उत्पन्न नहीं किया है। हे पुत्र! तेरा आत्मा अनादि सत् पदार्थ है, उसे मैंने उत्पन्न नहीं किया, इसलिये वास्तव में तू मेरा जन्य नहीं है।—ऐसा जानकर तू इस आत्मा का मोह छोड़! मेरा सच्चा जन्य तो निर्मल पर्यायरूपी संतति, उसके निकट मैं जाता हूँ। मुझे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, मेरा आत्मा ही मेरा अनादि जन्य है—वही अनादि बंधु है—उसे मैंने जाना है; अब मैं उसके पास जाता हूँ—उसमें लीन होता हूँ; इसलिये हे बंधुजनो! तुम इस आत्मा के मोह को छोड़ो... और मुझे विदा दो!

इसप्रकार बंधुजनों की विदा लेकर वह मुमुक्षु जीव पंचाचार को अंगीकार करता है और उत्तम गुणवंत आचार्य के निकट जाकर विनयपूर्वक दीक्षा माँगता है। दीक्षा हेतु जाने से पूर्व वह मुमुक्षु वैराग्य से कुटुंबीजनों को संबोधन करके आज्ञा माँगता है, तब उसके तत्त्वज्ञान भरपूर वैराग्य वचन सुनकर अन्य सुपात्र जीव भी ज्ञान-वैराग्य को प्राप्त होते हैं।

जिसका आत्मा जागृत हुआ है और जिसकी अंतरपरिणति में वैराग्य का प्रवाह उमड़ा है, वह किसी दूसरे के कारण संसार में नहीं रुकता; उसे माता-पिता, भाई-

बहिन, स्त्री-पुत्रादि का ममत्व छूट गया है। इसलिये उन सबको छोड़कर, मुनि होकर केवलज्ञान साधने के लिये वन में जाता है। पिंजरे से छूटा हुआ सिंह फिर पिंजरे में बंद नहीं होता, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानपूर्वक जिसने मोह का पिंजरा तोड़ दिया, वह अब संसार में नहीं रहेगा।

इसप्रकार वैराग्यपूर्वक बंधुजनों की विदा लेकर मुनि होने को निकला हुआ, वह धर्मात्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य के व्यवहार पंचाचार को अंगीकार करता है; परंतु किसप्रकार अंगीकार करता है?—कि शुद्ध आत्मा से उन्हें भिन्न जानकर हेयबुद्धि से अंगीकार करता है—तब तक के लिये कि जब तक शुद्धात्मा में लीन न हुआ जा सके। शुद्धात्मा में लीन होने पर वे पंचाचार के विकल्प छूट जायेंगे। ज्ञानाचार में ज्ञान का बहुमान, गुरुविनय आदि भाव होते हैं, दर्शनाचार में धर्मवात्सल्य आदि अंग हैं, चारित्राचार में पंच महाव्रत के पालन का भाव है; इसीप्रकार वीर्य एवं तप के आचार संबंधी शुभभाव वे शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं—ऐसा तो प्रथम स्वानुभूति

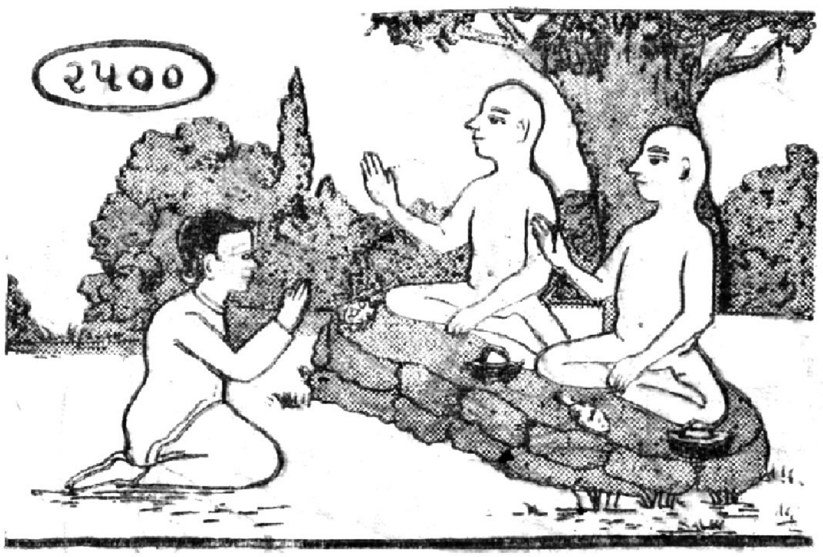

[हे प्रभो! इस संसार के दु:खों से छूटने और शुद्धात्मा की प्राप्ति करने के लिये मैं आपकी शरण में आया हूँ।]

द्वारा जाना है; निश्चय से वे पंचाचार के विकल्प आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, परंतु शुद्धात्मा की उपलब्धि न हो, तब तक भूमिकानुसार अंशतः शुद्धपरिणति के साथ वैसे विकल्प भी होते हैं, उनसे विपरीत विकल्प नहीं होते; इसलिये व्यवहार से उन्हें अंगीकार करता है—ऐसा कहा है। परंतु उन्हें अंगीकार करते समय ही मुनि होनेवाले को प्रतीति है कि यह मेरे आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जहाँ शुद्ध परिणति तो हुई है परंतु अभी शुद्धोपयोग द्वारा अंतर में लीनता नहीं हो पाती, किंचित् कषाय परिणति शेष रह गयी है, वहाँ अशुभ परिणाम के अभाव में ऐसे ही शुभ-परिणाम (पंचाचारादि के) होते हैं। पश्चात् शुद्ध परिणति की उग्रता होने पर वे भी छूट जाते हैं; इसलिये उपचार से ऐसा कहा है कि—हे पंचाचार! तुम्हारे प्रसाद से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करूँ, तभी तक तुम्हें अंगीकार करता हूँ। पंचाचार का राग हमेशा रखने की भावना नहीं है, परंतु शुद्धस्वरूप में लीनता की ही भावना है। यदि राग से ही लाभ मान ले अर्थात् उपादेयबुद्धि करे तो कहीं उसके प्रसाद से शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती, परंतु अज्ञान होता है। यहाँ तो जिसने पहले से अपने ज्ञानतत्त्व को समस्त परभावों से भिन्न जाना है—अनुभव किया है और उसी में एकाग्र होकर जो प्रशांत होने को तत्पर हुआ है, ऐसे सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा को मुनिदशा में चारित्र की शुद्धपरिणति के साथ पंचाचारादि कैसा व्यवहार होता है, उसकी पहिचान करायी है। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रवचनसार के चारित्राधिकार में आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से किया है।

इसप्रकार दु:ख से मुक्त होने का अभिलाषी मुमुक्षु जीव, वैराग्यपूर्वक कुटुंब-परिवार की विदा लेता है, पंचाचार को अंगीकार करता है और पश्चात् शुद्धात्मा की उपलब्धि को साधनेवाले महागुणवान आचार्य भगवान के निकट जाकर वंदन करता है और विनयपूर्वक प्रार्थना करता है कि—

''हे प्रभो! इस संसार के दु:खों से छूटने और शुद्धात्मा की प्राप्ति करने के लिये मैं आपकी शरण में आया हूँ; इसलिये शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप सिद्धि से मुझे अनुगृहीत करो।''

तब आचार्य भगवान उस पर अनुग्रह करके उसे मुनिदशा देते हैं कि—'ले, इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि।'

वाह, देखो तो, मानों साक्षात् मुनिदशा को अंगीकार करने का वह प्रसंग आज ही बन रहा हो! कुंदकुंदस्वामी इसी समय चारित्रदशा अंगीकार करवा रहे हों!—ऐसा भावभीना वर्णन है। इसप्रकार, मुमुक्षु शिष्य द्वारा प्रार्थना करके माँगी हुई इष्ट मुनिदशा आचार्य भगवान ने उसे देकर अनुगृहीत किया...

पश्चात्—

पर का न मैं, पर है, न मुझ, मेरा न कुछ भी जगत में,
—इस भाँति निश्चित अरु जितेन्द्रिय, साहजिक-रूपधार बने ॥२०४॥

मैं पर का नहीं हूँ, परपदार्थ मेरे नहीं हैं; इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है, पर के साथ मुझे तत्त्वतः कुछ भी संबंध नहीं है; मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। छह द्रव्यों से भरे हुए इस लोक में मेरे एक ज्ञानतत्त्व के सिवा अन्य कुछ भी मेरा नहीं है।—ऐसे निश्चयवाला वह जीव पर के साथ का संबंध तोड़कर अर्थात् इंदियों और मन को जीतकर, उनकी ओर से उपयोग को हटाकर, जितेन्द्रिय होकर, उपयोग को अपने शुद्धात्मतत्त्व में लीन करता हुआ शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है... अप्रमत्त होकर मुनिदशा प्रगट करता है... आत्मद्रव्य का जैसा सहज शुद्धस्वरूप है, वैसा प्रगट करके यथाजातरूपधर बनता है।—ऐसी चारित्रदशा वह मोक्ष की साधक है।

नमस्कार हो उन चारित्रवंत मुनि भगवंत के चरणों में!

आत्मा को पहिचानने का उपाय

[प्रवचनसार, गाथा १७२ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

अहा! वीतरागमार्ग स्वसन्मुखता का मार्ग है, पराश्रय से उसे पहिचाना नहीं जा सकता।

❀ ❀ ❀

स्वसन्मुख हुए बिना देव–गुरु आदि की सच्ची पहिचान नहीं हो सकती।

आत्मा शरीर नहीं है—ऐसा आचार्यदेव ने समझाया है; तब जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—जब शरीर, वह आत्मा नहीं है, तब शरीरादि समस्त परद्रव्यों से भिन्न आत्मा को किस साधन के द्वारा पहिचाना जावे? आत्मा का ऐसा कौन–सा असाधारण स्वलक्षण है कि जिससे आत्मा स्पष्टतया पर से भिन्न अनुभव में आ सके? इसप्रकार निजस्वरूप को जानने की जिसको रुचि तथा लगन है, उसको आचार्यदेव इस गाथा द्वारा आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं।

आत्मा का लक्षण चेतना है; स्वयं की चेतना स्वयं के स्वद्रव्य के ही आश्रित है, इसलिये चेतना के द्वारा स्वद्रव्य अनुभव में आता है।

ऐसे चेतनालक्षण से लक्षित आत्मा है, वह अलिंगग्राह्य है; उसको 'अलिंगग्रहण' कहकर बीस अर्थ के द्वारा अत्यंत स्पष्ट करके आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। इन बीस अर्थों का यह विवेचन है।

ज्ञानी आत्मा की पहिचान किसप्रकार की जावे?

ज्ञानस्वरूप आत्मा लक्ष में आवे, तब दूसरे ज्ञानी आत्मा की सच्ची पहिचान हो सकती है। राग से पृथक् होकर ज्ञान के लक्ष से ज्ञानी की पहिचान की जा सकती है।

क्योंकि जिस शुद्धात्मा की पहिचान करना है, उस जातिरूप स्वयं परिणमन किये बिना उसकी सच्ची पहिचान नहीं की जा सकती। ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचानने के लिये स्वयं में ही इंद्रियातीत ज्ञानरूप परिणमन हो, तब ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। स्वयं में अतीन्द्रियपना प्रगट हुए बिना, अकेले परोक्ष अनुभव के द्वारा अतीन्द्रियपने को प्राप्त आत्मा की पहिचान नहीं की जा सकती। इसप्रकार शुद्ध आत्मा केवल अनुमान के द्वारा नहीं पहिचाना जा सकता। इसलिये वह अलिंगग्रहण है; केवल अनुमान के द्वारा जानने में आवे, वह शुद्धात्मा नहीं; शुद्धात्मा तो प्रत्यक्षज्ञान से जानने में आता है।

जिसप्रकार अन्य के द्वारा यह आत्मा केवल अनुमान द्वारा नहीं पहिचाना जा सकता, उसीप्रकार आत्मा स्वयं केवल अनुमान के द्वारा पर को पहिचाने, ऐसा भी नहीं है अर्थात् अनुमाता मात्र नहीं है; किंतु स्वयं प्रत्यक्षरूप होकर इंद्रियों से पृथक् होकर, पर को जानता है। छह द्रव्य को जानने की शक्तिवाला आत्मा, केवल अनुमान द्वारा छह द्रव्यों को नहीं जानता; स्वसंवेदन-प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान द्वारा जाने, वह सच्चा है। सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक परज्ञेयों को जाने, ऐसा आत्मा है; अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। जाननेवाले को स्वयं को जाने बिना पर का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

अकेले रागरूप व्यवहार की बात तो दूर रही, अकेले परोक्ष ज्ञानरूप जो व्यवहार, उससे कार्य होना माने, वह भी सच्चा आत्मा नहीं; अकेला अनुमान-ज्ञान वह आत्मा नहीं, तथा उसके द्वारा आत्मा जानने में नहीं आ सकता; केवल अनुमान द्वारा आत्मा जानता नहीं। श्रवण के लक्ष से होनेवाले ज्ञान द्वारा आत्मा पहिचाना नहीं जा सकता।

यह तो ज्ञानस्वभावी आत्मा का घोलन-मंथन है। बीस बोल में ज्ञानस्वभावी आत्मा का ही मंथन चलता है। अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभावी आत्मा को स्वसंवेदन में लिया, उसी समय उसमें ये बीसों अर्थ समा जाते हैं; उसने अपनी चेतना के द्वारा अलिंगग्रहण आत्मा को प्राप्त कर लिया।

आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, चैतन्य का गुप्त चमत्कार है; जो अनंत ज्ञान-आनंद की

खान है, उसकी जगत को खबर नहीं; वह क्षणिक अंश इंद्रियज्ञान अथवा पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानता है किंतु अखंड स्वभाव को दृष्टि में नहीं लेता। वस्तु नित्य-परिणामी है। नित्य-परिणामी न हो तो दुःख दशा पलटकर सुख का कार्य नहीं हो सकता। नित्यस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करे तो महान निधान हाथ में आ जाता है।

आत्मा जाननेवाला है; वह जानने का कार्य इंद्रिय द्वारा नहीं, राग द्वारा नहीं, केवल अनुमान द्वारा नहीं, किंतु प्रत्यक्षज्ञान द्वारा करे, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता आत्मा है। शुद्ध उपयोग के द्वारा ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है। अन्य प्रकार से माने तो आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञाता स्वभाव है, वह अपने स्वभाव के अंश द्वारा कार्य करनेवाला है। स्वभाव से विपरीत ऐसे इंद्रियों तथा रागादि भावों के द्वारा जानना माने, उसको आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। भले ही मंदराग हो किंतु वह राग की जाति का है, वह ज्ञान की जाति का नहीं है, ज्ञान से वह विरुद्ध है; उस राग में ऐसी शक्ति नहीं कि वह आत्मा का स्पर्श करे-अनुभव करे।

आत्मा को स्वयं के उपयोग-चिह्न में परज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। परज्ञेयों का अवलंबन लेकर होनेवाला सच्चा उपयोग नहीं है। उपयोग में दिव्यध्वनि का अवलंबन नहीं है। उपयोग चिह्न वही कहा जा सकता है कि जो अपने आत्मा का ही अवलंबन लेकर वर्तन करे। बाहर के बैकुंठ में (अर्थात् स्वर्ग में) किंचित् भी सुख नहीं, वहाँ कहीं भगवान विराजमान नहीं हैं; अंतर में ज्ञान तथा आनंद से परिपूर्ण अपना आत्मा ही सच्चा बैकुंठ है; उसके अंदर जाने से चैतन्य भगवान का मिलाप होता है।

चैतन्य का जो उपयोग है, वह स्वयमेव (पर के अवलंबन से रहित) जानने के स्वभाववाला है। पर का अवलंबन अर्थात् भगवान का, शास्त्र का, गुरु का किसी भी परवस्तु का अवलंबन लेकर रुकनेवाला उपयोग अशुद्ध उपयोग है, ऐसे उपयोग में शुद्धात्मा लक्षित नहीं हो सकता, इसलिये आत्मा के आश्रित उपयोगलक्षण में किसी का भी अवलंबन नहीं है। पर के अवलंबन में तो राग है, वह कहीं आत्मा का चिह्न नहीं

है। राग में किंचित् भी सुख नहीं है। राग से भिन्न ऐसे निर्विकल्प अतीन्द्रिय उपयोग में ही परम सुख है। आनंद के धाम प्रभु को यह लज्जा-शर्मनाक शरीर धारण करना शोभा नहीं देता। उपयोगलक्षण में राग का या शरीर का ग्रहण नहीं है।

पर की ओर झुकनेवाले भाव को आत्मा का लक्षण नहीं कहा जाता। अंतर में झुककर आत्मा के स्वभाव में एकता करनेवाला तथा राग से भिन्न होनेवाला वह उपयोग ही आत्मा का लक्षण है; उसमें आनंद है। स्वज्ञेय-आत्मा के अतिरिक्त परज्ञेय के साथ उपयोग का संबंध नहीं है। परावलंबी उपयोग के द्वारा आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता, इसलिये उस उपयोग को आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जाता। ऐसा आत्मा जिस समय अनुभव में लिया, उस समय के उपयोग में परज्ञेयों का अवलंबन नहीं है।

आत्मा की अनंत शक्तियों में एक शक्ति 'स्व-स्वामित्वसंबंध' नाम की है; किंतु उस शक्ति का कार्य ऐसा नहीं कि आत्मा पर का स्वामी बने। आत्मा का स्व-स्वामित्वसंबंध स्वयं में ही पूर्ण होता है, पर से संबंधित नहीं। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों के साथ आत्मा का स्व-स्वामीपना है। निर्मल उपयोगरूप आत्मा स्वयं परिणमन करता है कहीं, बाहर से वह उपयोग नहीं लाता। चैतन्य आत्मा को परद्रव्यों से विभक्तपना है तथा ज्ञानरूप स्वधर्म से अविभक्तपना है।—ऐसी निर्मल पर्यायसहित शुद्धात्मा को एकपना तथा ध्रुवपना है।—ऐसा प्रवचनसार की १९२वीं गाथा में कहा है। स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होनेवाली, तथा किसी के भी अवलंबन से रहित ऐसी ज्ञान-पर्यायवाला आत्मा है। बाहर से उसका ग्रहण नहीं, इसलिये उसे अलिंगग्रहणपना है। ज्ञान में बाहर का अवलंबन जो मानता है, उसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचाना नहीं है, वह वास्तव में बाहर से ही ज्ञान का आना मानता है। ज्ञान तो आत्मा में से ही उल्लसित होता है। जिसप्रकार ज्वार-भाटे के समय समुद्र स्वयमेव अपने मध्यबिन्दु से ही उछलता है, उसीप्रकार आत्मा स्वयमेव अपने ज्ञानस्वभाव में से ही उल्लसित होकर निर्मल उपयोगरूप परिणमन करता है; वह उपयोग किसी के द्वारा हरा नहीं जा सकता।

साधक के उपयोग के अप्रतिहतपने को दर्शानेवाला यह मांगलिक बोल है। आत्मा के स्वभाव की ओर जो उपयोग झुका, वह आत्मा के साथ अभेद हो गया, अब उसको कोई नष्ट नहीं कर सकता; वह उपयोग पीछे नहीं हटता। उपयोग ने शुद्ध चैतन्य को ध्येय बनाया, उस अप्रतिहत के ध्येय से केवलज्ञान प्राप्त करेगा। ध्येय में लीन होनेवाला उपयोग कभी चलित नहीं होगा, स्वध्येय का त्याग करके अन्य को ध्येय नहीं बनायेगा। राग से भिन्न हो करके चैतन्यधाम में जो उपयोग आया, वह उपयोग अब जगत् की किसी भी प्रतिकूलता में हटनेवाला नहीं है; आत्मा तथा उसका उपयोग भिन्न होते, उपयोग का आत्मा से मिलन हुआ है, वह अब कभी भिन्न नहीं होगा।—वाह! देखो, यह साधक के अप्रतिहतभाव की ललकार!

परमात्मस्वरूप अंतर में ही पड़ा है, उसका लक्ष करके जो उपयोग एकाग्र हुआ, उसका नाश नहीं होता, साधक को कोई भी ऐसा कर्म नहीं रहा जो उसके उपयोग को नष्ट करने में निमित्त हो। उपयोग का नाश होता ही नहीं, फिर नाश करनेवाले का निमित्त ही कैसा? बहिर्मुख वृत्तियों से भिन्न होकर अंतरोन्मुख हुआ उपयोग वह स्वभावभूत हो गया, स्वभाव का नाश होता नहीं, इसीप्रकार उपयोग का भी नाश नहीं होता। स्वद्रव्य की ओर झुका हुआ उपयोग वह कभी पीछे नहीं हटता। उपयोग ने जहाँ चेतन का रूप धारण किया, वहीं उसकी जाति विकार से भिन्न हो गई। जब रावण के आधीन सीताजी नहीं हुईं, तब रावण से किसी ने कहा कि सीता रामचंद्रजी के अतिरिक्त अन्य के साथ प्रसन्न नहीं होगी, इसलिये हे रावण! तू राम का रूप धारण करके सीताजी के पास जायेगा तो सीताती तुझ पर प्रसन्न हो जायेंगी। तब रावण कहता है कि—लेकिन जब मैं राम का रूप धारण करता हूँ, तब मेरे भाव पलट जाते हैं, विकारी वृत्तियाँ रहती नहीं; इसप्रकार परभावों में दौड़नेवाली वृत्तियाँ जब अंतर्मुख आतमराम की ओर झुकें, तब वे शुद्ध हो जाती हैं, उनमें विकार नहीं रहता। इसप्रकार की शुद्ध परिणतिरूप परिणमित होनेवाले उपयोग का कोई नाश नहीं कर सकता। अप्रतिहत उपयोग, वह महान मांगलिक है।

आत्मा को शुद्ध जाने उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है

[प्रवचनसार, गाथा 194 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

❀ शुद्धात्मा को जाने उसे शुद्धता प्रगट होती है ❀

'इस यथोक्त विधि द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मपना होता है।' आत्मा का श्रेय कैसे हो और आश्रेय किसप्रकार दूर हो उसकी यह बात है। श्रेय-अच्छा करना कहो अथवा सुख, धर्म, कल्याण—यह सब एक ही हैं। जीव अज्ञानभाव से अध्रुव ऐसे विकार को तथा संयोग को अपना स्वरूप मानता था, वह अधर्म था। अब, परद्रव्य का आलंबन अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्य का आलंबन शुद्धता का कारण है—ऐसी पूर्वकथित विधि द्वारा शुद्धात्मा को जाना, वह धर्म है। मूल सूत्र में 'जो एवं जाणित्ता' ऐसा कहा है, उसमें से श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने टीका में यह रहस्य खोला है।

मुझमें परवस्तु का अभाव है और राग-द्वेष भी मेरे कल्याण का कारण नहीं हैं; वे सब अध्रुव पदार्थ हैं, वे मुझे शरणरूप नहीं हैं; मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ध्रुव है, वही मुझे शरणरूप है—इसप्रकार जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है। पहले मलिन भावों को अपना स्वरूप मानता था, तब शुद्धता प्रगट नहीं होती थी, अब वह मान्यता बदलकर शुद्ध आत्मा को जाना, इसलिये शुद्धता प्रगट हुई।

❀ यह बात किसे समझाते हैं ? ❀

पहले अनादि से आत्मा को अशुद्ध मानता था, वह मिथ्या मान्यता सर्वथा असत् (सर्वथा अभावरूप) नहीं है, किंतु अज्ञानी की अवस्था में वह मिथ्या मान्यता होती है, वह एक समय पर्यंत सत् (भावरूप) है। यदि विपरीत मान्यता आत्मा में सर्वथा होती ही न हो तो शुद्धात्मा को समझकर उसे दूर करना भी नहीं रहता; इसलिये

आत्मा को समझने का उपदेश देना भी नहीं रहता। अनादि से आत्मा को क्षणिक विकार जितना माना है, वह मिथ्या मान्यता छुड़ाने के लिये श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि—आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध उपयोगस्वरूप ध्रुव है, उसकी श्रद्धा करो!

'राग के समय शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान कैसे हो सकते हैं?' श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का भिन्न-भिन्न कार्य।

प्रश्न—आत्मा में राग-द्वेष होते हैं, तथापि वे राग-द्वेष मैं नहीं हूँ—ऐसी मान्यता उसी क्षण कैसे हो सकती है? राग-द्वेष के समय ही राग-द्वेषरहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है?

उत्तर—राग-द्वेष होते दिखलाई देते हैं, वह तो पर्यायदृष्टि है; उसी समय यदि पर्यायदृष्टि गौण करके स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा का स्वभाव रागरहित ही है—उसकी श्रद्धा और अनुभव होता है। राग होने पर भी शुद्ध आत्मा उस राग से रहित है—इसप्रकार ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा में एक ही गुण नहीं है किंतु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनंत गुण हैं; राग-द्वेष होते हैं, वह चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना, वह श्रद्धागुण का निर्मल परिणमन है तथा शुद्धात्मा को जानना, सो ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है। इसप्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है। चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी, श्रद्धा-ज्ञान उस ओर उन्मुख न होकर त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख हुए, श्रद्धा की पर्याय ने विकाररहित पूर्ण शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसे माना और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का अस्वीकार करके स्वभावोन्मुख हुई है, इसलिये उसने भी विकाररहित शुद्ध आत्मा को जाना है। इसप्रकार, चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान स्वोन्मुख होने से शुद्ध आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान होते हैं। राग के समय यदि रागरहित शुद्ध आत्मा का भान न हो सके तो किसी भी जीव को चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा गुणस्थान अथवा साधकदशा प्रगट नहीं हो सकती और

साधकभाव के बिना मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा।

राग-द्वेष चारित्रगुण की अवस्था है। यदि आत्मा में चारित्र के अतिरिक्त दूसरे ज्ञानादि अनंत गुण न हों तो धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि जो चारित्र स्वयं विकार में रुका हो, वह स्वयं विकाररहित स्वभाव का निर्णय कैसे कर सकता है? और उस निर्णय के बिना धर्म कहाँ से होगा? इसलिये चारित्र के अतिरिक्त दूसरे ज्ञान, श्रद्धा आदि गुण हैं; इससे चारित्र की दशा में विकार होने पर भी उसी समय ज्ञानगुण के कार्य द्वारा शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है तथा श्रद्धा-गुण के कार्य द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा होती है। और उस शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान के बल से स्वभावसन्मुख परिणमित होने से चारित्र के विकार का भी क्रमशः नाश हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर उसके साथ चारित्र भी अंशतः शुद्ध तो होता है। सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी चारित्र सर्वथा अशुद्ध ही रहे—ऐसा नहीं हो सकता। चारित्र का वर्तन किंचित् विपरीत होने पर भी, उस समय श्रद्धा-ज्ञानगुण के स्वाश्रित परिणमन द्वारा विकाररहित आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान होता है। इसलिये यदि कोई जीव आत्मा में अनंत गुण न माने और एक ही गुण माने तो उसे साधकदशा हो ही नहीं सकती, वह तो विकार के समय विकार जितना ही आत्मा को मानेगा, किंतु विकार के समय विकाररहित आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान उसे नहीं हो सकते; क्योंकि उन गुणों को ही उसने स्वीकार नहीं किया। अवस्था में राग-द्वेषरूप जो क्षणिक मलिनता है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण की है, ज्ञान की मलिनता नहीं है। इसलिये उस मलिनता से पृथक् रहकर ज्ञान ने स्वभावोन्मुख होकर आत्मा के निर्मल गुणों को जाना, इसलिये उनके आश्रय से साधकदशा प्रारंभ हो गई। वह जीव अपने को क्षणिक राग-द्वेष जितना ही नहीं मान लेता।

आत्मा की वर्तमान पर्याय में रागादि मलिनता है, वह चारित्रगुण की विपरीत दशा है। उसे ही अज्ञानी पूर्ण आत्मा मानता था, इसलिये मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान थे। अब, वह मिथ्या मान्यता बदलकर श्रद्धा-ज्ञान स्वसन्मुख होने से ऐसा माना कि त्रिकाल ध्रुव

चैतन्य ही मैं हूँ, मेरे त्रिकाली स्वभाव में मलिनता नहीं है; अवस्था में जो क्षणिक-अल्प मलिनता है, उतना पूर्ण आत्मा नहीं है। स्वभावोन्मुख हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान ने उस मलिनता को ज्ञेयरूप से जाना कि वह चारित्र का दोष है, किंतु मेरा मूल स्वभाव नहीं है। उस दोष के समय भी दूसरे ज्ञान-श्रद्धान गुण द्वारा ध्रुव शुद्ध नित्य आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होता है, इसलिये विकार के समय भी शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान में धर्मी जीव को शंका नहीं पड़ती। यदि प्रत्येक आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनेक गुणों को (अनेकांत स्वभाव को) न माना जाये तो साधकपना ही सिद्ध नहीं हो सकता; और साधकपने के बिना बाधकपना भी सिद्ध नहीं हो सकता; इसलिये संसार-मोक्ष का ही अभाव सिद्ध होगा।—किंतु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

यदि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने से उनके साथ ही पूर्ण चारित्र प्रगट हो जाता हो और वर्तन का किंचित् दोष नहीं रहता हो तो साधकपने के प्रकार ही नहीं पड़ेंगे, किंतु सम्यक्श्रद्धा के साथ ही सभी जीवों को वीतरागता हो जायेगी; इसलिये कथंचित् गुणभेदरूप जो वस्तुस्वरूप है, वह सिद्ध नहीं होगा, इसलिये वह भी विरुद्ध है।

आत्मवस्तु में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनेक गुण हैं और गुणों की अपेक्षा से उन प्रत्येक का कार्य भिन्न-भिन्न है—इसप्रकार यथार्थ अनेकांत को समझे, तभी वस्तुस्वरूप की सिद्धि हो।

❀ कल्याण कैसे हो ? ❀

जीव की अवस्था में अकल्याण है, उसे दूर करके कल्याण प्रगट करना है। अवस्था में जो अकल्याण है, वह दूर होकर कल्याण कहाँ से प्रगट होगा ? अवस्था में अकल्याण होने पर भी जिसमें से कल्याण प्रगट होता है, ऐसी ध्रुव वस्तु की श्रद्धा करने से उसके आधार से कल्याण प्रगट होता जाता है। ध्रुववस्तु की श्रद्धा हुई, वहाँ अंशतः कल्याण प्रगट हुआ है और अभी अंशतः अकल्याण भी है। यदि संपूर्ण कल्याण हो जाये तो अकल्याण बाकी न रहे। राग-द्वेष अकल्याण है और वीतरागभाव कल्याण है।

अवस्था में अंशतः अकल्याण (राग-द्वेष) होने पर भी शुद्ध आत्मा का विवेक होता है और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप कल्याण प्रगट होता है। इसलिये श्री आचार्यदेव ने प्रथम शुद्ध आत्मा को जानने की बात रखी है। शुद्धात्मा को जानने के साथ ही पूर्ण वर्तन (वीतरागता) नहीं हो जाता, किंतु उसमें क्रम पड़ते हैं। यदि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने के साथ ही चारित्र पूर्ण हो जाता हो तो साधकदशा नहीं रहेगी।

❀ प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता और देव-गुरु-शास्त्र की सिद्धि ❀

'जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है उसे... शुद्धात्मत्व होता है'—ऐसा कहा, इसलिये यदि सभी जीव शुद्धात्मा को जानें, तभी अपने को शुद्धात्मा ज्ञात हो—ऐसा नहीं है; किंतु सभी जीवों से स्वयं स्वतंत्र है। सभी आत्मा भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, उनमें से जो शुद्धात्मा को जाने, उसी को शुद्धात्मदशा प्रगट होती है, और जो शुद्धात्मा को नहीं जानता उसे शुद्धात्मदशा नहीं होती। इसमें परिणमन भी निश्चित हो गया; क्योंकि अनादि से शुद्ध आत्मा को नहीं जाना था, वह अज्ञानदशा पलटकर अब शुद्धात्मा को जाना। यदि अवस्था बदलती न हो तो ऐसा नहीं हो सकता; इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीनता से जो पूर्ण शुद्ध हो गये वे 'देव' हैं। शुद्धात्मा को जान लिया है, तथापि जिनके अभी पूर्ण शुद्धदशा प्रगट नहीं हुई किंतु साधकदशा है, वे 'गुरु' हैं, और ऐसे देव-गुरु की अनेकांतमय वाणी, सो 'शास्त्र' हैं। शुद्ध आत्मा को जाने, उसी समय आत्मा पूर्ण शुद्ध सर्वज्ञ नहीं हो जाता, किंतु अभी विशेषरूप से स्वभावोन्मुख होना और अशुद्धता को दूर करना-साधकपना रहता है; इसलिये ज्ञान के और गुणस्थान के भेद पड़ते हैं—इस रीति से अनेक प्रकार सिद्धि हो जाती है।

❀ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का कार्य ❀

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनेक गुण त्रिकाल हैं, उन्हें यदि न माना जाये तो यह बात सिद्ध नहीं हो सकेगी। चारित्रदशा में विकार होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान ने उसका लक्ष छोड़कर जब शुद्ध आत्मस्वभाव का स्वीकार किया, तब अपूर्व धर्म-कला

का प्रारंभ हुआ है। वर्तन की क्षणिक मलिनता को सम्यक्श्रद्धा स्वीकार नहीं करती किंतु ध्रुव शुद्ध द्रव्य को ही वह स्वीकार करती है; और उस ध्रुव के आधार से वर्तन की पूर्णता होकर मैं सर्वज्ञ हो जाऊँगा—ऐसा ज्ञान जानता है।

❀ प्रथम सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म प्रगट होता है और पश्चात् सम्यक्चारित्ररूप धर्म ❀

आत्मा का जो शुद्ध ध्रुवस्वभाव है, वह तो नित्य है; उस स्थायी पदार्थ को कहीं नया नहीं बनाना है; किंतु वर्तमान क्षणिक अवस्था में अधर्म है, उसे दूर करके धर्मदशा नई प्रगट करना है। सारा अधर्म एक ही साथ दूर नहीं हो जाता, किंतु उसे दूर करने में क्रम पड़ता है। जो जीव धर्मी हो, उसे सर्वप्रथम कितने अंश में अधर्म दूर होता है? प्रथम शुद्ध आत्मा को जानने से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म तो दूर हो जाता है और चारित्र के अधर्म का एक अंश दूर हो जाता है, किंतु चारित्र का सारा अधर्म दूर नहीं होता। पहले सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञानरूप धर्म एकसाथ प्रगट होता है और पश्चात् सम्यक्चारित्र होता है; वह चारित्रधर्म क्रमशः प्रगट होता है। 'मैं शुद्ध, ध्रुव उपयोगस्वरूप हूँ'—ऐसा जिस श्रद्धा-ज्ञान से जाना और माना, वह धर्म है, और जो राग-द्वेष होता है, वह अधर्म है; इसप्रकार साधक को अंशतः धर्म और अंशतः अधर्म दोनों साथ में हैं। पहले शुद्ध आत्मा को नहीं जानता था और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानता था, तब तो उस जीव के श्रद्धा-ज्ञान और वर्तन तीनों मिथ्या थे, इसलिये मात्र अधर्म ही था। उस अधर्मीपने में तो जीव विकार को और पर को ही ज्ञान में ज्ञेय करता था और उसकी श्रद्धा करता था, उसके बदले अब, ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा को ही ज्ञान का स्व-ज्ञेय किया और उसकी श्रद्धा की, वहाँ ज्ञान और श्रद्धा सुधर गये; तथापि अभी उस धर्मी को चारित्र में अंशतः विकार भी है; परंतु वह विकार होने पर भी उसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म का नाश नहीं होता। इसप्रकार प्रथम तो मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म दूर होता है और पश्चात् राग-द्वेष दूर होते हैं।

अधर्मदशा के समय पुण्य-पाप को जानने में एकत्वशुद्धि से जो ज्ञान रुकता था, उसका कार्य धर्मदशा होने से बदल गया और अब वह ध्रुव चैतन्यस्वभाव को जानने में उसके आश्रय से रुका तथा पहले जो श्रद्धा पुण्य-पाप को ही आत्मा मानती थी, उसने अब ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा की।—इसप्रकार ज्ञान और श्रद्धा की क्रिया हुई। अब मात्र चारित्र का अल्प दोष रहा, उसे भी शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता द्वारा दूर करके परमात्मा हो जायेगा। किंतु जिसके श्रद्धा-ज्ञान ही सच्चा नहीं है, उसके तो विकार कभी दूर होता ही नहीं। प्रथम सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् ही चारित्रदोष दूर होकर परमात्मदशा होती है।

❀ आत्मा का वर्तन कैसे सुधरे ? ❀

लोग कहते हैं कि 'वर्तन सुधारो!' लेकिन वर्तन का अर्थ क्या ? देह की क्रिया में आत्मा का वर्तन नहीं है। वर्तन का अर्थ देह की क्रिया नहीं है, किंतु आत्मा के अंतर के भाव हैं। शुद्ध आत्मा को यथावत् समझकर उसमें एकाग्ररूप वर्तना ही सच्चा वीतरागी वर्तन है। और शुद्ध आत्मा को न समझकर विकार में ही एकाग्ररूप से वर्तना, सो विपरीत वर्तन है। जहाँ अपने पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभाव को ही ज्ञान का ज्ञेय किया और उसकी श्रद्धा की, वहाँ ज्ञान और श्रद्धा का वर्तन तो सुधर गया—अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हुए। चारित्र के वर्तन में अमुक विकार हो, तथापि उस विकारपरिणाम के समय भी श्रद्धा-ज्ञान को शुद्धस्वभावोन्मुख करके उसका वर्तन सुधारा जा सकता है और ऐसा करने से धर्म का प्रारंभ होता है। पर्याय में विकार होने पर भी उसी समय उस विकार को मुख्य न करके उस विकार से रहित ध्रुव चैतन्यस्वभाव को मुख्य करके उसमें श्रद्धा-ज्ञान को उन्मुख करने से ही शुद्धात्मा ज्ञात होता है और अपूर्व कल्याण का प्रारंभ होता है।

आत्मा त्रिकाल है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र—यह तीन गुण मुख्य हैं; उसकी पर्याय में मलिनता है। अनादिकाल से पराश्रय के कारण विपरीत परिणमन था, वह

स्वभाव के आश्रय से सम्यक् होता है। चारित्र में किंचित् विपरीतता होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान शुद्ध स्वभावोन्मुख होकर शुद्ध आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेते हैं; वही शुद्ध आत्मा को जानने की रीति है। इस रीति से शुद्धात्मा को जानता है, उसी को आत्मा की शुद्धता प्रगट होती है।

❀ सच्ची सामायिक और प्रतिक्रमण किसे होते हैं? ❀

सामायिक का अर्थ है, समता का लाभ होना; वह सामायिक कब होती है? आत्मा के त्रिकालस्वभाव में ज्ञान-आनंद है, ऐसे त्रिकाली स्वभाव को जानकर उसमें जो लीन हो, उसे आत्मा का आनंद प्रगट होता है और राग-द्वेष के अभावरूप वीतरागी समता होती है, वह सामायिक है। ऐसी सामायिक को भगवान ने धर्म और मोक्ष का कारण कहा है तथा जीव मिथ्यात्व अविरति आदि पाप से विमुख हुआ; इसलिये उसे प्रतिक्रमण भी हो गया। ऐसी सच्ची सामायिक और सच्चा प्रतिक्रमण शुद्ध आत्मा की प्रतीति बिना किसी जीव को नहीं होता।

❀ मोक्षार्थी को मोक्ष का उल्लास (बैल का दृष्टांत) ❀

आत्मा ने अनंतकाल से एक क्षण भी अपने स्वभाव को लक्ष में नहीं लिया; इसलिये उसे समझना कठिन मालूम होता है और शरीरादि बाह्यक्रिया में धर्म मानकर मनुष्यभव व्यर्थ गँवाते हैं। यदि आत्मस्वभाव की रुचि से अभ्यास करे तो उसे समझना सरल है; स्वभाव की बात महँगी नहीं होती। प्रत्येक आत्मा में समझने का सामर्थ्य है, किंतु अपनी मुक्ति की बात सुनकर अंतर से उल्लास आना चाहिये तो झट समझ में आ जाती है। जैसे—जब बैलों को घर से खेत में काम करने ले जाते हैं, तब धीरे-धीरे चलते हैं और पहुँचने में देर लगाते हैं; लेकिन जब खेत पर काम करके शाम को घर लौटते हैं, उस समय दौड़ते हुए आते हैं; क्योंकि उन्हें खबर है कि अब कार्य के बंधन से छूटकर सारी रात शांति से घास खाना है; इसलिये उन्हें उल्लास आता है और गति में वेग आता है। देखो, बैल जैसे प्राणी को भी छुटकारे का उल्लास आता है। उसीप्रकार

आत्मा अनादिकाल से स्वभावगृह से च्युत होकर संसार में भटक रहा है; श्रीगुरु उसे स्वभावगृह में लौटने की बात सुनाते हैं। अपनी मुक्ति का मार्ग सुनकर जीव को यदि उल्लास न आये तो वह बैलों से भी गया बीता है, पात्र जीव को तो अपने स्वभाव की बात सुनकर अंतर से मुक्ति का उल्लास आता है और उसका परिणमन वेगपूर्वक स्वभाव की ओर ढलता है। जितने काल तक संसार में भटका, उतना काल मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकार की अपेक्षा स्वभाव की ओर का वीर्य अनंतगुना है, इसलिये वह अल्पकाल में ही मुक्ति की साधना कर लेता है; किंतु उसके लिये जीव के अंतर में उल्लास आना चाहिये।

❀ मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास (बछड़े का दृष्टांत) ❀

श्री परमात्मप्रकाश में पशु का दृष्टांत देकर कहते हैं कि मोक्ष में यदि उत्तम सुख न होता तो पशु भी बंधन में से छूटने की इच्छा कैसे करते? देखो, बंधन में बँधे हुए बछड़े को पानी पिलाने के लिये बंधन से छूटा करने लगे, वहाँ वह छूटने के हर्ष में उछल-कूद करने लगता है; अहा! छूटने के समय गाय का बछड़ा भी उल्लसित होकर उछलने लगता है; तो अरे जीव! तू अनादि अनंतकाल से अज्ञानभाव से इस संसार बंधन में बँधा हुआ है, और अब इस मनुष्यभव में सत्समागम द्वारा संसार-बंधन से मुक्त होने का अवसर आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि संसार से छुटकारा होकर मोक्ष हो—ऐसी बात सुनाते हैं और वह सुनकर तुझे यदि संसार से छूटने का उल्लास न आये तो तू उस बछड़े से गया बीता है। खुली हवा में विचरने का और स्वतंत्रता से पानी पीने का अवसर मिलने पर स्वतंत्रता का हर्ष मानने में बछड़े को भी कैसा उल्लास आता है! तब फिर जिसे समझने से अनादि के संसार-बंधन से छूटकर मोक्ष के परम आनंद की प्राप्ति हो—ऐसी चैतन्यस्वभाव की बात ज्ञानी के निकट जाकर सुनने से किस आत्मार्थी जीव को अंतर में रुचि और उल्लास नहीं आयेगा? और जिसे अंतर में सत् समझने का उल्लास है, उसे अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। प्रथम तो,

जीव को संसार-भ्रमण में मनुष्यभव और सत् श्रवण मिलना अति दुर्लभ है; और क्वचित् सत् का श्रवण मिल भी गया, तथापि जीव ने विचार करके, सत् का उल्लास लाकर अंतर में नहीं उतारा, इसलिये संसार में भटका। भाई ! तुझे यह शोभा नहीं देता ! ऐसा अमूल्य अवसर आने पर भी तू आत्मस्वभाव को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? और उसे समझे बिना तेरे भवभ्रमण का अंत कैसे आयेगा ? इसलिये अंतर से उल्लास लाकर सत्समागम द्वारा आत्मस्वभाव की समझ ले !

❀ जिज्ञासु का प्रश्न ❀

जीव अज्ञान के कारण अनादिकाल से अवतारों में बैल की भाँति दुःखी हो रहा है; तथापि उनसे छूटने की जिज्ञासा भी मूढ़ जीव को नहीं होती। छोटे से ग्राम में एक किसान पूछता था कि 'महाराज ! आत्मा अवतारों में भटक रहा है, उस भटकने का अंत आये और मुक्ति हो, ऐसा कुछ बतलाइये !' ऐसा जिज्ञासा का प्रश्न भी किसी जीव को उठता है। ऐसा अमूल्य अवसर पुनः पुनः नहीं मिलता, इसलिये जिज्ञासु होकर, अंतर में मिलान करके सच्चा आत्मस्वरूप क्या है, उसे समझना चाहिये, क्योंकि जो शुद्ध आत्मा को पहिचान लेता है, उसी को शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

—: फॉर्म भरकर भेजें :—

राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में स्कूलों तथा पाठशालाओं का दशहरा दीपावली अवकाश होने के कारण अनेक संस्थाओं से केन्द्राध्यक्षों की माँग पर 'श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड' की शीतकालीन परीक्षाओं में प्रवेश हेतु फार्म भरे जाने की अंतिम तिथि ३१ अक्टूबर से ३० नवम्बर तक बढ़ा दी गई है। अतः परीक्षाबोर्ड से संबंधित समस्त केन्द्राध्यक्षों से निवेदन है कि वे समय के भीतर फार्म भरकर भेजने की कृपा करें।

प्रति छात्र दस पैसा विलम्ब शुल्क लेकर १० दिसम्बर तक ही प्रवेश फार्म स्वीकृत किये जा सकेंगे।

—मंत्री, परीक्षाबोर्ड

त्रिकाली आत्मा की भावना से केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट होती हैं।

[नियमसार, गाथा ९६ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी॥९६॥

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, वह चिंतन होता निरंतर ज्ञानि को॥९६॥

इस गाथा की टीका में मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि त्रिकाली आत्मा शक्तिरूप से केवलज्ञानस्वभावी, केवलदर्शनस्वभावी, केवलसुखस्वभावी और केवलशक्तिस्वभावी है और व्यक्तिरूप से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्तियुक्त है, वे निज आत्मा के ध्यान से प्रगट होती हैं। इन दोनों के स्वरूप का कथन करते हैं। उनमें से सर्वप्रथम पर्यायरूप केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति का विषय है, जो कि शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से है, उसकी बात कही जाती है:—

समस्त शुभ-अशुभ बाह्य प्रपंचों की वासना से विमुक्त निरवशेषतया अंतर्मुख परमतत्त्वज्ञानी जीव है, जिसका लक्ष्य निमित्त पर और राग पर से छूट गया है, उसको शिक्षा देने में आ रही है। जिसे सम्यक्चारित्र प्रगट हुआ हो, उसे परमतत्त्वज्ञानी कहते हैं। अज्ञानी जीव को सम्यक्चारित्र नहीं होता। जिस जीव ने घर देखा हो, वह वहाँ पर जाकर ठहर सकता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव ने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में चैतन्यघर देख लिया है, तब वह उसमें स्थिरतारूप परिणमन करके वीतरागचारित्र प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव को निश्चय प्रत्याख्यान किसप्रकार होता है, अब उसकी बात कहते

हैं—केवलज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य परिपूर्ण शुद्ध पर्यायें सादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववान शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से हैं। इन पर्यायों को सादि-अनंत कहा गया है, क्योंकि वे (जीव के साथ अनादि से नहीं चली आ रही हैं।) त्रिकाल आत्मा का परिपूर्ण आश्रय लेने से नई प्रगट होती हैं। वे गुण भी नहीं हैं क्योंकि गुण तो अनादि से द्रव्य के साथ रहते हैं। केवलज्ञानादि पर्यायें होने से उनकी नवीन प्रगटता होती है, इस अपेक्षा से उन्हें सादि कहा गया है और जब से प्रगट हुई हैं, तब से अनंतकाल तक प्रगटरूप ही रहेंगी, उनका कभी अंत नहीं आयेगा, इस अपेक्षा से उन्हें अनंत कहा गया है। उनमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं होने से वे अमूर्त कहलाती हैं, तथा वे इंद्रियज्ञान के द्वारा जानने में नहीं आती किंतु अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानने में आती हैं। (अतीन्द्रियस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय करने से प्रगट हुई हैं, अतः वे अतीन्द्रियस्वभावरूप हैं) केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य पर्यायें परिपूर्ण निर्मल और पवित्र होने से शुद्ध हैं। वे अपने स्वद्रव्य की पर्यायें हैं। इसलिये सद्भूत कहलाती हैं। त्रिकाल आत्मा की अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायें अंश हैं, भेद हैं।

अब वे पर्यायें किस पदार्थ की भाँति हैं, सो कहते हैं। जिसप्रकार शुद्ध स्पर्श-रस-गंध और वर्ण की जो पर्यायें हैं, उनका आधारभूत शुद्ध परमाणु है, उसीप्रकार केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य का आधार त्रिकाल शुद्ध आत्मद्रव्य है। साधक जीव ऐसी भावना करता है कि (केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख और केवलवीर्य) इन पर्यायों से युक्त परमात्मा, वह मैं हूँ। ऐसी भावना करने से अर्थात् स्वरूप में एकाग्र होने से उसे निश्चयप्रत्याख्यान होता है। त्रिकाल आत्मद्रव्य तो शक्तिरूप से अनंत चतुष्टयस्वरूप ही है, किंतु साधक जीव को पर्याय में अपूर्णता है, उसका निषेध करके केवलज्ञानादि पर्यायें, वह मैं हूँ ऐसा वीतरागी चिंतवन करता है। वह साध्य को लक्ष्य में लेकर अल्पज्ञता का निषेध करके पर्याय में वीतरागचारित्र की निर्मलता प्रगट करना चाहता है। अपूर्ण शुद्धपर्यायें साधन हैं और

उनका अभाव होकर केवलज्ञानादि शुद्धपर्यायें प्रगट होती हैं, इसलिये वे साध्य हैं। पूर्ण और अपूर्ण शुद्धपर्यायें अपने त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होती हैं। अत: परमतत्त्वज्ञानी को संबोधन किया गया है कि तू शुद्ध केवलज्ञानादि पर्यायों को लक्ष्य में ले। ऐसी वीतरागी भावना करने पर अपूर्व शुद्ध पर्याय का व्यय (नाश) होकर पूर्ण केवलज्ञानादि पर्यायों की प्रगटता होगी। वे पर्यायें किसके आधार से उत्पन्न होती हैं, उसका स्वरूप अब बतलाते हैं—ज्ञानी जीव ऐसी भावना करता है कि मैं निश्चय से सहज अर्थात् स्वाभाविक केवलज्ञानस्वरूप हूँ, परंतु देह, रागादि वह मैं नहीं हूँ। मुझे अपूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट हो चुकी है, परंतु पूर्ण शुद्ध केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट करने के लिये मैं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा ध्येय रखकर ध्यान करता हूँ, जिससे अंतर में से केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट होंगी। मैं सहज अर्थात् स्वाभाविक दर्शनस्वरूप हूँ, मैं अकषाय शांतरस और वीतरागस्वरूप हूँ।

केवलज्ञानादि पर्यायों में केवलसुख पर्याय ली थी, यहाँ पर त्रिकाल आत्मा को सुखमय नहीं कहकर त्रिकाल चारित्रस्वरूप कहा है। उसमें सुख का समावेश हो जाता है। सिद्धों को अनंत ज्ञानादि आठ गुण प्रगट होते हैं; उसमें सुखगुण लिया है परंतु चारित्रगुण नहीं लिया है। निश्चय सम्यग्दर्शन और वीतरागचारित्र, वे अतीन्द्रिय सुख के ही भेद हैं, क्योंकि दोनों प्रगट होने पर अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है। सिद्धों में इंद्रियसंयम और प्राणीसंयमरूप बाह्य चारित्र नहीं होता है, इस अपेक्षा से सिद्धों को चारित्र नहीं है, ऐसा कहा है परंतु उन्हें वीतरागचारित्र तो विद्यमान है ही; मैं सहज अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ।

इसप्रकार सहज अनंत चतुष्टयस्वरूप त्रिकाली आत्मा की भावना करने से पर्याय में केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयपना प्रगट होता है। यहाँ पर भावना का अर्थ विकल्प नहीं परंतु निर्विकल्प है।

स्वरूप को साधने का उत्साह

चैतन्य की बात सुनते ही आत्मार्थी का रोम-रोम पुलकित हो जाता है... असंख्यात प्रदेशी आत्मा चमक उठता है कि वाह! अपने आत्मा की यह अपूर्व बात मुझे सुनने को मिली। कभी नहीं सुना था, ऐसा राग से भिन्न अपना स्वरूप आज सुनने में आया! इसप्रकार अंतर स्वभाव का उल्लास लाकर और बहिर्भावों का उत्साह छोड़कर जिसने स्वभाव का श्रवण किया, उसका बेड़ा पार! उसके भाव में अपूर्व अंतर पड़ गया, स्वभाव और परभाव के बीच थोड़ी दरार पड़ गई, वह अब दोनों का भिन्न अनुभव करके ही रहेगा।

ऐसी अध्यात्म की बात सुनानेवाले संत-गुरु भी महाभाग्य से मिलते हैं। अपने सिवा दूसरे सबकी प्रीति छोड़कर मुझे तो ऐसा निजस्वरूप समझना ही है, उसी का अनुभव करना है, ऐसी तीव्र उत्कंठा जगाकर, उपयोग को उस ओर स्थिर करके, जिस जीव ने सुना, वह जीव स्वरूप को साधने के उत्साह में आगे बढ़कर जरूर स्वानुभव करेगा। धन्य है, उस अध्यात्मरसिक जीव को!

ज्ञानमय सुप्रभात

कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल सुवर्णधाम (सोनगढ़) में मोक्ष का स्वर्णप्रभात खिला था... आज के दिन वीरप्रभु के आत्मा में सिद्धपद का, गौतमस्वामी के आत्मा में केवलज्ञान का तथा सुधर्मास्वामी के आत्मा में श्रुतकेवलीपने का सुप्रभात उदित हुआ था! ऐसे जगमगाते ज्ञानदीपक का सुप्रभात भक्तों ने आनंद से मनाया। पावापुरी का स्मरण करते हुए वीरप्रभु की—अब सिद्धप्रभु की परम भक्तिपूर्वक पूजन हुई।

वीरप्रभु के द्वारा उपदिष्ट जो वीतरागी आत्मस्वरूप उसको स्वामीजी ने मंगल प्रवचन में बतलाया। आत्मा का परम सत् ज्ञानस्वभाव है; उसका अनुभव करनेवाला ज्ञानी अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञानस्वरूप को नित्य जानता है। विकल्प, पुण्य-पाप, राग या हर्ष करने-भोगने के भाव, वे सभी क्षणिक हैं, धर्मी उसस्वरूप अपने को अनुभव नहीं करता। ऐसे आत्मा का अनुभव वह धर्म की कला है, वह ज्ञानमय सुप्रभात है।

ऐसे शाश्वत आत्मा के निर्विकल्प रस से भरे हुए यह आनंदमय पकवान हैं, दिवाली के दिन यह पकवान परोसे गये हैं। रागादि भावों में तो दु:ख है, चैतन्य-रस से भरा हुआ नित्य आत्मा, उसके सन्मुख होकर ज्ञानी अपने ज्ञानानंद-रस का वेदन करते हैं। ऐसे टंकोत्कीर्ण ज्ञानस्वभाव का अनुभव कर-करके महावीर भगवान आज सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, ध्रुवपद को प्राप्त हुए हैं; सादि-अनंत वह अपने आत्मा के आनंद में स्थिर रहेंगे। अज्ञानी अध्रुव-क्षणिक रागादिभावरूप ही अपने को अनुभव करता होने के कारण चार गतिरूप अध्रुव पद में भ्रमण करता है। एक तरफ ध्रुवस्वभाव, दूसरी तरफ क्षणिक रागादिभाव, दोनों की भिन्नता है। ध्रुव स्वभाव का अनुभव करते हुए पर्याय भी ध्रुव के साथ अभेद हो गई; ध्रुव के साथ अभेद होकर प्रगट होनेवाली वह पर्याय सादि-अनंत ज्यों की त्यों ऐसी ही हुआ करेगी। इस अपेक्षा से उसको ध्रुव कह दिया। कुंदकुंदाचार्यदेव ने श्री समयसार की गाथा में सिद्धगति को ध्रुवगति कहा है; ऐसी ध्रुव सिद्धगति को महावीर भगवान आज पावापुरी से प्राप्त हुए थे; उसका यह उत्सव है।

धर्मी को 'ध्रुव' कहा, क्योंकि वह ध्रुवस्वभाव को दृष्टि में लेकर एक टंकोत्कीर्ण स्वभावरूप अपने को अनुभव करता है; अज्ञानी ध्रुव पद को भूलकर इच्छा-राग-द्वेषादि अध्रुव भावरूप ही अपना अनुभव करता है।—ऐसा कहकर पूज्य स्वामीजी ने सत्य आत्मस्वरूप के अनुभव की प्रेरणा दी तथा कहा कि ऐसा आत्मा ही ध्रुव-शरणरूप है।

अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो

[लेखांक : १०]

जिस जीव को समाधि अर्थात् आत्मिक शांति की चाह है, उसे उसकी प्राप्ति कैसे हो ?—यह बात पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितंत्र' में बतलायी है। स्वद्रव्य और परद्रव्य को जो भिन्न जानता है, वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव की अद्‌भुतता में ऐसा तृप्त हो जाता है कि संयोग में से कुछ भी लेने की बुद्धि उसे नहीं रहती, वह सर्व संयोगों में निजस्वरूप से संतुष्ट रहता है, इसलिये उसे समाधिरूप अपूर्व आत्मशांति होती है। उसका वर्णन आप इन प्रवचनों में पढ़ेंगे।

अज्ञानी का विषय ही बाह्य है। इसलिये बाह्य पदार्थों में ही वह ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है; यह बाह्य पदार्थ इष्ट हैं, इसलिये इन्हें ग्रहण करूँ और यह पदार्थ अनिष्ट हैं, इसलिये इन्हें छोड़ूँ—इसप्रकार बाह्य पदार्थों में दो भाग करके उनका ग्रहण-त्याग करना चाहता है, उसमें अकेला राग-द्वेष का ही अभिप्राय है। इसलिये उसे असमाधि ही है।

ज्ञानी का स्वविषय अंतर में अपना आत्मा ही है; समस्त बाह्य पदार्थों को वह अपने से भिन्न ही जानता है। इसलिये किसी बाह्य पदार्थ को मैं ग्रहण करूँ या छोड़ूँ—ऐसा उसे नहीं रहता। परपदार्थ मेरे हैं ही नहीं तो मैं उन्हें कैसे छोड़ूँ ? इसलिये बाह्य में मुझे कुछ भी ग्रहण-त्याग योग्य नहीं है।

अंतरात्मा अपने शुद्ध आत्मा को ग्रहण करके (अर्थात् उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को एकाग्र करके) रागादि परभावों को छोड़ता है। इसप्रकार अंतर में ही उसे ग्रहण-त्याग है। ऐसे ग्रहण-त्याग द्वारा स्वरूप में स्थिरतारूप निर्विकल्प समाधि होती

है; वहाँ ऐसी कृतकृत्यता है कि ग्रहण-त्याग संबंधी कोई विकल्प नहीं रहते; ग्रहण करनेयोग्य स्वरूप को ग्रहण कर लेने से और छोड़नेयोग्य परभाव को छोड़ दिया होने से वहाँ परम तृप्ति है... इसका नाम समाधि है... वह मोक्षमार्ग है

यह समाधि अधिकार होने से आत्मा को समाधि कैसे हो, उसकी बात चलती है। उसमें कैसे ग्रहण-त्याग से समाधि होती है, सो कहते हैं—

- जो चैतन्यस्वभाव को जानकर परिपूर्ण ज्ञान एवं आनंदस्वरूप परमात्मा हो गये, उन्होंने तो ग्रहण करनेयोग्य ऐसा अपना शुद्धस्वरूप ग्रहण कर लिया और त्यागनेयोग्य ऐसे मोह-राग-द्वेष छोड़ दिये, इसलिये उनके पूर्ण समाधि ही है।
- जो अंतरात्मा हैं, उन्होंने शरीरादि समस्त पदार्थों से अपने चेतनस्वरूप आत्मा को भिन्न जाना है, इसलिये पर में तो किसी का ग्रहण या त्याग करना वे मानते नहीं हैं; अपने ज्ञानानंदस्वरूप को ही उपादेय जाना है और परभावों को हेय माना है, इसलिये चैतन्यस्वभाव का ही ग्रहण करके (—उसमें लीनता करके) वे परभावों को छोड़ते जाते हैं और उनको समाधि होती जाती है।
- और मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा तो बाह्य पदार्थों के साथ अपने को एकमेक मानते हैं; परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानते हैं, इसलिये वे किन्हीं अनुकूल पदार्थों पर राग करके उन्हें ग्रहण करना चाहते हैं और किसी प्रतिकूल पदार्थों पर द्वेष करके उन्हें छोड़ना चाहते हैं। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेष से पर का ग्रहण-त्याग मानते हैं। इसप्रकार मिथ्या अभिप्राय के कारण उनका त्याग भी द्वेषगर्भित है; उन्हें समाधि नहीं होती परन्तु असमाधि ही रहती है।

घर हो या जंगल, महल हो या श्मशान, वे सब आत्मा से भिन्न परद्रव्य हैं; तथापि अज्ञानी बाह्यदृष्टि से ऐसा मानता है कि घर छोड़ दूँ और जंगल में चला जाऊँ तो शांति हो, परंतु भाई! शांति जंगल में है या आत्मा में? मकान तुझे अनिष्ट है या तेरा मोह अनिष्ट है? मोह को तो छोड़ता नहीं और मकान को अनिष्ट मानकर छोड़ना चाहता है,

वह अभिप्राय ही झूठ है; और मिथ्या अभिप्राय सहित त्याग तो द्वेषपूर्ण है। चैतन्य के वीतरागभाव बिना शांति का वेदन नहीं होता।

चैतन्य-गुफा में प्रविष्ट होकर शांति के वेदन में लीन होने से बाह्य पदार्थों के प्रति राग-द्वेष-मोह की वृत्ति ही न हो, उसका नाम त्याग है और जहाँ राग-द्वेष-मोह छूटे, वहाँ उनके निमित्त (वस्त्रादि) भी सहज ही छूट जाते हैं, इसलिये उनका त्याग किया, ऐसा निमित्त से कहा जाता है।

चैतन्य में अंतर्मुख होकर मिथ्यात्वादि परभावों को छोड़े बिना कभी समाधि होती ही नहीं। धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थदशा में हो, तथापि चैतन्य में अंतर्मुख होने से मिथ्यात्वादि परभाव जितने अंश में छूट गये हैं, उतने अंश में उनके समाधि ही वर्तती है; खाते-पीते, चलते-फिरते, बोलते-चालते, जागते-सोते सर्व प्रसंगों पर उतनी वीतरागी समाधि-शांति उनके वर्तती ही रहती है, इसलिये वास्तव में वे गृहस्थभाव में नहीं किंतु चेतनभाव में ही वर्तते हैं।

बाह्य ग्रहण-त्याग से अंतर का माप नहीं निकलता; अंतर्दृष्टि को न जाननेवाले बाह्यदृष्टि लोग बाह्य त्याग देखकर ठगे जाते हैं, धर्मात्मा की अंतर्दृष्टि वे नहीं जानते।

अंतरंग अभिप्राय जाने बिना धर्मी-अधर्मी की पहिचान नहीं हो सकती। पर से भिन्न आत्मा को जानकर, तथा स्वभाव और परभाव का पृथक्करण करके, स्वभाव में एकाग्र रहने से परभाव छूट जाते हैं; स्वभाव की अनुभूति में ग्रहण-त्याग के कोई विकल्प नहीं हैं।

जितनी बहिर्मुखता है, उतना दु:ख है, और अंतर्मुख चैतन्यवेदन में ही आनंद है, ऐसा स्वसंवेदन से जान लेने के कारण धर्मी अपने उपयोग में आत्मा को ही ग्रहण करना चाहता है। जगत के किसी भी बाह्य पदार्थ के प्रति उपयोग जाये तो उसमें उन्हें अपना सुख भासित नहीं होता, एक निजस्वरूप में ही सुख भासित हुआ है; इसलिये पर की ओर के व्यापार को छोड़कर स्व में उपयोग लगाते हैं—अर्थात् स्वद्रव्य को ही

ज्ञान में ग्रहण करते हैं।—यह धर्मी जीव की ग्रहण-त्याग की विधि है। इसके अतिरिक्त बाह्य में कोई ग्रहण-त्याग आत्मा को नहीं है। उपयोग में जहाँ स्वद्रव्य का ग्रहण हुआ, वहाँ समस्त परद्रव्य और परभाव उपयोग से बाहर पृथक् ही रह जाते हैं, इसलिये स्वोन्मुख हुआ उपयोग पर के त्यागस्वरूप ही है। इसप्रकार उपयोग की निजस्वरूप में सावधानी ही समाधि है, वही मोक्षमार्ग है, उसमें ग्राह्य का ग्रहण एवं त्याज्य का त्याग हो जाता है।

जब तक देहात्मबुद्धि है, तभी तक जगत के पदार्थ विश्वसनीय एवं रम्य लगते हैं अर्थात् बहिरात्मा को ही जगत के पदार्थों में सुख भासित होता है; परंतु जहाँ अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि हुई, वहाँ अन्य काहे में विश्वास होगा? अथवा अन्यत्र कहाँ रति होगी? अंतरात्मा को अपने में बाहर जगत के किसी भी पदार्थ में सुख भासित नहीं होता, इसलिये उसमें विश्वास या रति नहीं होती; चैतन्यस्वरूप का ही विश्वास करके उसी में वह केलि करता है।

देखो, यह धर्मात्मा का रम्यस्थान! शांति का हरा भरा प्रदेश छोड़कर तप्त रेगिस्तान में कौन रहने जायेगा?—उसीप्रकार बाह्य पदार्थ तो आत्मसुख के लिये उज्जड़ प्रदेश के समान हैं, उसमें कहीं सुख या शांति का अंश भी नहीं है; उल्टे उस ओर की वृत्ति से तो आतप की भाँति आकुलता होती है और चैतन्यप्रदेश में केलि करते हुए परम शांति का वेदन होता है; तो फिर ऐसे शांत रम्य हरे-भरे चैतन्यप्रदेश को छोड़कर उज्जड़ प्रदेश समान परद्रव्यों में कौन जायेगा? उन्हें कौन मानेगा? धर्मी तो कदापि नहीं मानते। जिन्होंने शांतिधाम ऐसे रम्य आत्मप्रदेश को नहीं देखा, ऐसे मूढ़ जीव परद्रव्यों में सुख की कल्पना करके उन्हें रम्य मानते हैं।

ज्ञानी को चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का वेदन हुआ है, इसलिये उसी का विश्वास और उसी की प्रीति है। जगत में कहीं पर में मेरा सुख है ही नहीं, ऐसी प्रतीति होने से पर में कहीं भी सुखबुद्धि से आसक्ति नहीं होती। इसप्रकार आत्मा की ही रति

होने से ज्ञानी अपने आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्य को अधिक काल धारण नहीं करते—यह बात अब अगली (५०वीं) गाथा में कहेंगे।

संयोग तो धोखा देकर क्षण में छूट जाते हैं, वे कहीं जीव के साथ ध्रुव नहीं रहते, इसलिये संयोग के विश्वास से जो सुखी होना चाहते हैं, वे अवश्य ठगे जाते हैं। यह शरीर और यह अनुकूल संयोग मानों सदा ज्यों के त्यों बने रहेंगे—ऐसा उनका विश्वास करके अज्ञानी उनमें सुख मानता है, परंतु जहाँ संयोग पलट जायें और प्रतिकूलता हो जाये, वहाँ मानो मेरा सुख चला गया!—इसप्रकार वे ठगे जाते हैं। परंतु भाई! अनुकूल संयोग के समय भी उसमें कहीं तेरा सुख नहीं था, तू उसमें सुख मानकर ठगा गया। ज्ञानी तो जानते हैं कि संयोग का क्या विश्वास! उसमें कहीं सुख दिखता ही नहीं। ज्ञानी की दृष्टि एक आत्मा पर ही स्थिर रहती है, अन्यत्र कहीं उसकी दृष्टि नहीं टिकती। राग के ऊपर भी उसकी दृष्टि नहीं जमती, एक आतमराम में ही उसकी दृष्टि स्थिर होती है। अहो! मेरा एक आत्मा ही मेरे सुख का धाम है, उसके अतिरिक्त जगत का कोई तत्त्व मेरे सुख का धाम नहीं है, तो उन परद्रव्यों का क्या विश्वास? और उनमें कैसी रति? मेरा आत्मा ही मेरे आनंद का धाम है;—इसप्रकार ज्ञानी की श्रद्धा का और रमणता का विषय अपना आत्मा ही है। वे अपने स्वभाव को ही सुख का सागर जानकर उसका विश्वास और उसमें एकाग्रता करते हैं, और इसप्रकार अपने अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हैं।

इसलिये हे भव्य! अपने आत्मा को ही सुख का स्थान जानकर उसी का विश्वास और उसी में रमणता कर! बाह्य पदार्थों में सुख की मान्यता छोड़—ऐसा श्री पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

सम्यग्दृष्टि को अपना आत्मा ही इष्ट है, आत्मा ही प्रिय है; आत्मा के सिवा अन्य कुछ जगत में इष्ट या सुखरूप नहीं लगता। चैतन्य के विश्वास से ज्ञानी की नौका भवसागर से पार होकर मोक्ष में पहुँच जाती है।

धर्मात्मा ज्ञानी आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी कार्य को अपनी बुद्धि में चिरकाल तक धारण नहीं करते; आत्मस्वभाव की भावना छोड़कर अन्य किसी भी कार्य में वे नहीं लगते, उन्हें आत्मा की भावना एक क्षण भी नहीं छूटती। ज्ञानचेतना जिसका लक्षण है, वही धर्मी का कार्य है, उसी में वे तत्पर हैं। अस्थिरता के कारण प्रयोजनवश शरीर-वाणी की किंचित् चेष्टा में लगते हैं परंतु उसमें वे अतत्पर हैं; उन्हें उसकी भावना नहीं है, उसमें वे ज्ञान-आनंद नहीं मानते, इसलिये उससे वे अनासक्त ही हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा भी रागादि में और विषयों में अतत्पर हैं, क्योंकि उनमें सुख नहीं माना है, चेतना उनमें तन्मय नहीं हुई है। राजपाट में हों, स्त्रियाँ हों, खाते-पीते हों, उपदेश देते हों, तथापि अंतर के चैतन्यसुख की प्रीति के कारण उनकी चेतना किन्हीं भी बाह्य विषयों में या राग में तत्पर नहीं होती, भिन्न की भिन्न ही रहती है।

ज्ञानी के अंतरंग चेतनापरिणाम विषयों से पार हैं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। चैतन्यसुख का जो स्वाद ज्ञानी के वेदन में आया है, उस स्वाद की अज्ञानी विषयलुब्ध प्राणी को गंध भी नहीं है, इसलिये वह अपनी दृष्टि से ज्ञानी को देखता है, परंतु वह ज्ञानी की वास्तविक दशा को नहीं जानता। जाने तो अपूर्व कल्याण हो।

मुनि ध्यान में आत्मा के आनंद में लीन हों... और कोई सिंह आकर शरीर को फाड़ रहा हो... वहाँ बाह्यदृष्टि मूढ़ प्राणी को ऐसा लगता है कि—'अरेरे! यह मुनि कतने दु:खी हैं!!' परंतु मुनि के अंतर में तो सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा अधिक आनंद की धारा उल्लसित हो रही है... सिद्ध भगवान समान परम आत्मिक सुख में वे लीन हैं... सिंह जब यहाँ शरीर को खा रहा है, तब वे मुनि अतीन्द्रिय-आनंद में लीनता सहित, एकावतारीरूप से देह छोड़कर सिद्धों के पड़ोस में—सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं! (सिद्धशिला से सर्वार्थसिद्धि की दूरी सिर्फ बारह योजन है।)

संयोग में या राग में सुख मानकर धर्मी उसमें अपने आत्मा को नहीं झुलाते, परंतु वे तो आत्मा का विश्वास करके उसके आनंद में आत्मा को झुलाते हैं। स्वरूप के आनंद में से बाहर निकलना, वह प्रमाद और दु:ख है। व्यवहार में तो ऐसा कहा जाता है कि तीर्थयात्रा न करे, वह आलसी है। शांतिनाथ भगवान की माताजी अचिरादेवी से गर्भकल्याणक के समय देवियाँ विनोदपूर्वक प्रश्न पूछती हैं कि—हे माताजी! सबसे बड़ा आलसी कौन? तब माताजी कहती हैं कि जो तीर्थयात्रा न करे और विषयों में ही वर्ते, वह आलसी है—ऐसा वहाँ व्यवहार से कहा जाता है; परंतु परमार्थ से तो चिदानंदस्वरूप के अनुभव में से बाहर निकलना, वह प्रमाद अर्थात् आलस्य है। चैतन्यानंद के अनुभव में लीन संत उसमें से बाहर निकलने के आलसी है... क्योंकि उन्हें आत्मानुभव के सिवा अन्यत्र कहीं सुख भासित नहीं होता।

धर्मात्मा शरीरादिक से भिन्न अपने आत्मा की ऐसी भावना भाते हैं कि—इंद्रियों द्वारा जो दिखायी देता है, वह मैं नहीं हूँ, मेरा स्वरूप तो परम उत्तम ज्ञानज्योति है और आनंदसहित है, परम प्रसन्नतारूप परमार्थसुख से पूर्ण है; ऐसे अपने स्वरूप का मैं अंतर में अवलोकन करता हूँ; उसमें मुझे परमसुख की अनुभूति है। इसलिये इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा मैं अपने आत्मा को देखता हूँ—अनुभवता हूँ; इसके सिवा समस्त बाह्य विषयों के प्रति मैं अनासक्त हूँ, उसमें मुझे कहीं अपनत्व या सुख भासित नहीं होता।

इंद्रियों द्वारा बाह्य में जो दिखायी देता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। इंद्रियों द्वारा शरीरादि दिखायी देते हैं, वे तो जड़ हैं, वे कहीं आत्मा नहीं हैं; आत्मा कहीं इंद्रियों से दृष्टिगोचर नहीं होता; वह तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है और अतीन्द्रियज्ञान से ही दृष्टिगोचर होता है। धर्मात्मा अपने ज्ञान को विषयों से विमुख करके अंतर में अपने स्वरूप में उन्मुख करते हैं, उसमें उन्हें अपने किसी परम अचिंत्य अद्भुत आनंद का अनुभव हुआ है, इसलिये वे बाह्य विषयों में अनासक्त हैं; उन्हें अपने आत्मस्वरूप का

चिंतन ही सुखकर लगता है और इंद्रियविषय तो दु:खकर लगते हैं; इसलिये वे धर्मात्मा अपनी बुद्धि में आत्मा को ही धारण करते हैं किंतु शरीरादि को धारण नहीं करते। धर्मात्मा की ऐसी अनुभूति का नाम समाधि है।

आत्मा में ही आनंद है, वही उपादेय है, उसी में एकाग्र होना योग्य है—ऐसी रुचि एवं भावना तो है, और उसमें एकाग्र होने का जो अभी प्रयत्न करता है, उसे प्रारंभ में कष्ट मालूम होता है, क्योंकि अनादि से बाह्यविषयों में ही लीन है, इसलिये उन बाह्यविषयों से हटकर आत्मभावना में आने से कष्ट लगता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! अनभ्यास के कारण प्रारंभ में तुझे कष्ट-सा लगेगा, परंतु अंतरप्रयत्न से आत्मा का अनुभव होने पर ऐसा अपूर्व आनंद होगा कि उसके सिवा बाहर के सब विषय कष्टरूप-दु:खरूप लगेंगे।

अंतर्मुख होने का प्रयत्न करते-करते उसमें शांति का अनुभव होगा और परिणाम उल्लसित रहेंगे। पश्चात् अनुभव का उद्यम करते-करते जहाँ निर्विकल्प आनंद की अनुभूति हुई—सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ धर्मी बारंबार उसी की भावना करता है और उसे आत्मा में ही सुख का अनुभव होता है तथा बाह्यविषय दु:खरूप लगते हैं। आनंद का अनुभव नहीं था, आत्मा की शांति दिखायी नहीं देती थी, तब तो अंतर के अनुभव का उद्यम करने में कष्ट लगता था और बाह्य में सुख मानता था; परंतु जहाँ अंतर में आनंद का अनुभव हुआ—स्वाद आया, वहाँ बाहर का रस उड़ गया और चैतन्य के अनुभव का सुख देखा, इसलिये अब तो उसे आत्मा के ध्यान का उत्साह आया... ज्यों-ज्यों विशेष एकाग्रता करता है, त्यों-त्यों आनंद एवं शांति का वेदन होता है। जब तक आनंद का स्वाद नहीं चखा था, तब तक उसमें कष्ट लगता था, परंतु अब जहाँ आनंद का स्वाद चखा, वहाँ धर्मी को उसमें से बाहर निकलना कष्टरूप-दु:खरूप लगता है।

जिसप्रकार मछली की रुचि-प्रकृति शीतल जल में रहने की है, उससे बाहर

रेत में या धूप में आने से वह तड़फती है, उसीप्रकार धर्मात्मा ज्ञानी की रुचि–प्रकृति अपने शांत चैतन्यसरोवर में ही रहने की है, उस शांति के वेदन से बाहर निकलकर पुण्य या पाप के भाव में आना पड़े, वह उन्हें दुःखरूप लगता है। चैतन्यरस के समक्ष सारा जगत उन्हें नीरस लगता है, समस्त विषय दुःखरूप लगते हैं। नरक में पड़े हुए किसी सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के वेदन की जो शांति आती है, वैसी शांति मिथ्यादृष्टि को स्वर्ग के वैभव में भी नहीं है। अरे! संयोग में शांति है या स्वभाव में? चैतन्य के शांत जल में से बाहर निकलकर इंद्रियविषयों की ओर दौड़ता है, वही आकुलता है, और अतीन्द्रिय चैतन्य में उपयोग लगे, उसमें परम अनाकुल शांति है। इसलिये हे भाई! आत्मा के आनंद का विश्वास करके बारंबार दृढ़रूप से उसमें एकाग्रता का उद्यम कर!

जैसे कोई मनुष्य सदा खारा और मैला पानी ही पीता हो, मीठा–स्वच्छ जल घर के गहरे कुएँ में भरा है, उसका कभी स्वाद ही नहीं लिया हो, उसका पता भी न हो,... परंतु जब उसे उस मीठे कुएँ का पता चलता है और मीठा–स्वच्छ जल पीता है, तब खारे–मैले पानी की इच्छा मिट जाती है... अब अपने घर के आँगन में भरे हुए गहरे कुएँ का स्वच्छ जल लेने में उसे कष्ट नहीं लगता, उसीप्रकार अज्ञानी जीव ने अनादि से सदा बाह्य इंद्रियविषयों में आकुलतारूप खारे स्वाद का ही अनुभव किया है, परंतु अपने चैतन्यकूप में भरे हुए आत्मा के अतीन्द्रिय अनाकुल मीठे स्वाद का–आनंद का अनुभव नहीं किया, इसलिये उसे प्रयत्न में कष्ट लगता है; परंतु जहाँ अंतर्मुख चैतन्यकूप में गहरे उतरकर विषयातीत आनंद का स्वाद लिया, वहाँ उसके बारंबार प्रयत्न में उसे कष्ट नहीं लगता, उलटे बाह्यविषय उसे खारे–नीरस लगते हैं। इसलिये आत्मा की ही भावना करनी चाहिये। (५२)

—: भूल सुधार :—

आत्मधर्म अंक नं० ३६४ में पृष्ठ ७ पर जो ''शंका-समाधान एवं तत्त्वचर्चा'' संबंधी लेख छपा है, उसमें पृष्ठ ८ तथा ३३ पर दो प्रश्नों के उत्तर में भूल हुई है; तत्संबंधी स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—

प्रश्न – पर्याय से रहित एकांत ध्रुव का ध्यान हो सकता है क्या ?

उत्तर – (१) ध्यान पर्याय है और वह ध्यान त्रिकाल आत्मा–ध्रुव आत्मा जो कारण परमात्मा कहलाता है उसको (ध्यान का) विषय करे तो निर्विकल्पता प्रगट होती है, इसलिये सम्यक् ध्यान में वर्तमान पर्याय अकेले त्रिकालिक ध्रुव का ही ध्यान करती है, पर्यायसहित ध्रुव का नही।

(२) उत्पाद और व्यय पर्यायरूप से सत् हैं इसलिये वे एकसमय के होते हैं, और ध्रुव त्रिकाल एकरूप रहता है; इसलिये पर्याय ध्रुव का ध्यान धरे उसमें वह ध्रुव एकांत नहीं हो जाता, परंतु वैसा ध्यान करने से निर्विकल्पता उत्पन्न होती है। वहाँ ध्यान–ध्याता–ध्येय का भेद जो रागरूप है, वह नहीं रहता। उसे सच्चा ध्यान कहा जाता है। निर्विकल्प ध्यान के बिना जो ध्यान होता है, वह रागयुक्त होने से सच्चा ध्यान नहीं है, परंतु आर्त्त अथवा रौद्र ध्यान होता है।

शंका – द्रव्य–गुण–पर्याय के बीच किसी प्रकार से प्रदेशभेद है क्या ?

समाधान – उनके प्रदेश एक ही हैं, परंतु उनमें प्रदेश के अंशोंरूपी भेद किये जा सकते हैं। पर्याय के प्रदेश–अंश एकसमय के उत्पाद और व्ययरूप हैं, और द्रव्य के प्रदेश ध्रुवरूप हैं – ऐसा भेद हो सकता है।

निजवैभव से शुद्धात्मा दरशानेवाले संत!

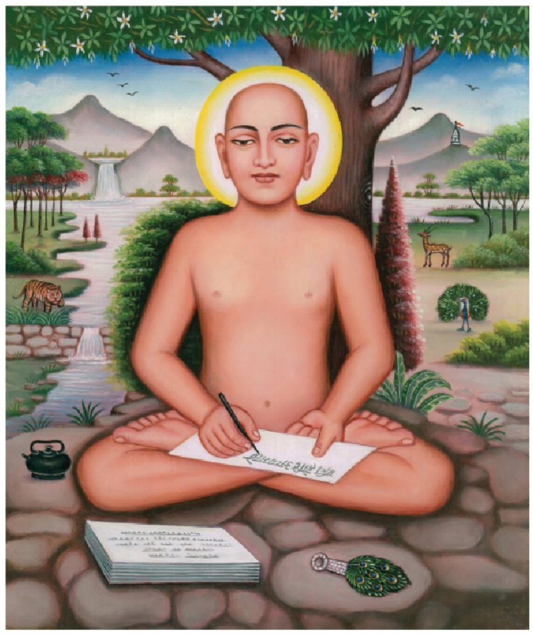

हे कुंदकुंद प्रभु! श्री समयसारादि शास्त्रों में हमें आपका ही साक्षात्कार
तथा आपकी स्वानुभूति के आनंदमय निजवैभव के दर्शन होते हैं।
धन्य है हमारा जीवन... कि आपके मार्ग की प्राप्ति हुई!
नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!